॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष : २
अंक : २

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
२४७२

अवस्था की दृष्टि से भूमिका के अनुसार रहनेवाला

निमित्त-नैमित्तिक संबंध

दृष्टि, निमित्त को स्वीकार नहीं करती, अपने में होनेवाले राग-द्वेष को स्वीकार नहीं करती। इतना ही नहीं, किन्तु अपने में होनेवाली निर्मल पर्याय को भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय अभेद, अखंड और एक आत्मा है, उसमें जो भेद पड़ता है, वह भेद, दृष्टि का विषय नहीं होता किन्तु अवस्था का (पर्यायार्थिकनय का) विषय होता है अर्थात् दृष्टि में राग-द्वेष है ही नहीं। वह ज्ञान में ज्ञेय है और चारित्र की अपेक्षा से विष है। दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञानी को जो राग-द्वेष होता है, वह निर्जरा के अर्थ है। जितनी-जितनी निर्मल पर्याय ज्ञानी के बढ़ती है, उतने-उतने प्रमाण में नैमित्तिक भाव और पर निमित्त छूटते जाते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव का संबंध है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१४

एक अंक
पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

संसार परिभ्रमण का दुःख दूर करके वास्तविक सुख प्राप्त करने का उपाय

सम्यक्दर्शन

''सभी जीव सुख चाहते हैं'' जो काम करना चाहते हैं, वह सब सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही करते हैं। प्रत्येक क्रिया से वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरे को मारते हैं, वह भी सुख के लिये; परवस्तु की चोरी करते हैं, वह भी सुख के लिये; झूठ बोलते हैं, सो भी सुख के लिये और धन-दौलत का परिग्रह करते हैं, सो भी सुख के लिये। इस प्रकार अनेकविध पाप करके भी अज्ञानी जीव सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख तो सभी को प्यारा है; किन्तु सुख के सच्चे उपाय की अनादि काल से खबर नहीं है। सब लोग धर्म सुनने को किसलिये एकत्रित होते हैं ? सभी सुख की इच्छा से ही आते हैं। जीव ने अनंत काल में तत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं किया। यदि तत्त्वनिर्णय हो जाय तो रमणता का भाव हुये बिना न रहे और यदि तत्त्व में रमणता हो जाय तो यह दुःख हो ही नहीं।

किसी से यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक जीव को सुख प्रिय होता है। प्राणी प्रत्येक कार्य में सुख के लिये ही दौड़ता है। स्वर्ग के देव या नरक के नारकी, तिर्यंच या मनुष्य, त्यागी या गृहस्थ यह सब सुख के लिये ही आतुर रहते हैं। किन्तु यह सुख कैसे मिलता है, क्या यह सुख बाहर से पैसा इत्यादि में से आता होगा ? नहीं, नहीं ! वह सुख राग-द्वेषरूप भावकर्म के नाश करने पर प्रगट होता है; भावकर्म के नाश कर देने पर आठों प्रकार के द्रव्यकर्म का नाश हो जाता है। और सब कर्मों का नाश होने पर स्वतंत्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहर से नहीं आता किन्तु भीतर से ही प्रगट होता है। बाहर सुख है कहाँ ? क्या शरीर पिंड में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, सुख है कहाँ ? बाह्य में तो धूल-जड़ दिखाई देती है। क्या जड़ में आत्मा का सुख हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी जीव ने परवस्तुओं में सुख की मिथ्या कल्पना कर रखी है। यद्यपि परवस्तु में सुख नहीं है, कभी परवस्तु में सुख देखा भी नहीं गया, फिर भी मूढ़ता के कारण वैसी कल्पना कर ली है। अयथार्थ को यथार्थ मान लेने से परिभ्रमण का दुःख दूर नहीं हो जाता। अज्ञानी को सुख स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह स्वभाव से विरुद्ध भाव कर रहा है और इसीलिये आठ कर्मों का बंध होता है, तथा आकुलता का भोग किया करता है। यदि वह स्वभाव का भान कर ले और स्वभाव से विरुद्ध जो

राग-द्वेष के भाव हैं, उनका नाश करे तो सब कर्म दूर हो जाय और दुःख मिटकर सुख हो जाये।

×××××

यदि कोई कहे कि चारित्र क्या है ? तो उसके लिये कहते हैं कि चारित्र बाह्य वस्तु में नहीं है, उपकरण या वस्त्रादि में नहीं है; किन्तु आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, उसका ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थिर हो जाना, सो वही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिदशा में होता है। पहले अतिचाररहित आत्मा की श्रद्धा करने के बाद ही स्वरूपरमणतारूप चारित्र होता है। आत्मा अनंत गुणों का निर्मल पिंड है। उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से क्षणिक विकार का नाश होता है। किन्तु विकार मेरा है, इस प्रकार विकार की श्रद्धा से विकार का नाश नहीं होता। विकार का नाश करने के लिये बल कहाँ से आयेगा ? वह बल परवस्तु में से नहीं आता, विकार में से नहीं आता, और निर्मल अवस्था में से भी नहीं आता। किन्तु दर्शन, ज्ञान, आनंद इत्यादि अनंत गुणों से अभेद स्वरूप जो वस्तु है—(जिसमें न तो पर है, न विकार है और न वर्तमान अवस्था मात्र ही है, ऐसी वस्तु) उसमें से बल मिलता है। उस वस्तु की जो श्रद्धा है, वह सम्यक्दर्शन है।

यदि कोई पूछे कि सम्यक्दर्शन में ऐसी क्या बात है कि सब से पहले उसी की बात कही जाती है ?—सो उसका समाधान करते हुये बताते हैं कि सम्यक्दर्शन का विषय संपूर्ण वस्तु है और उस वस्तु के बल पर ही चारित्र प्रगट होता है और राग-द्वेष का नाश होता है। इसलिये पहले सम्यक्दर्शन की बात कही गई है। *(मुक्ति का मार्ग में से)*

मनियार्डर कहाँ भेजेंगे ?

आत्मधर्म का मूल्य इस पते पर भेजने की कृपा करें। मनियार्डर-फोर्म में आपका ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक

आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकड़िया (काठियावाड)

स्मरण रहे कि पोस्टल गाइड में यहाँ का नाम Akadia Mota छपा हुआ है।

—व्यवस्थापक

आत्मधर्म

: वर्ष : २ : : अंक : २ : | १४ | : ज्येष्ठ : : २४७२ :

बिना इकाई के बिन्दी

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी को क्रिया से रहित चिदानंद, पर का अकर्ता है, पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है, ऐसे आत्मा के भान के बिना जो व्यवहार धर्म क्रिया में-शुभ क्रिया में लीन है, वह भगवान का शत्रु है, शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है। उसके परिणाम में वर्तमान शुभभाव है किन्तु शुभभाव करते-करते मिथ्यादृष्टिपना तीन काल में भी नहीं टल सकता। प्रत्युत शुभ करते-करते उसे लाभकारक मानने में मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। शुभभाव राग है, राग करते-करते अरागी स्वभाव की दृष्टि तीन काल में प्रगट नहीं होती। पुण्य करते-करते न तो धर्म होता है और न सम्यक्त्व ही प्रगट होता है। इस बात का गले उतरना मुश्किल है किन्तु जिन्हें जन्म-मरण का अंत करना है, उन्हें इस बात को गले उतारे बिना दूसरा कोई चारा नहीं है।

जो जीव, भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वरूप की पहिचान नहीं करता और यह निर्णय नहीं करता कि मेरा स्वभाव निःशंक भव-भाव रहित और भव रहित है, तब तक वह यदि देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति, तप, व्रत, दान इत्यादि सब कुछ करता रहे तो भी उसमें पुण्य है; धर्म नहीं है। जो भगवान के द्वारा कहे गये परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि अधर्मी है।

तत्त्वनिर्णय के बिना त्याग किसका करेगा? जो समझने लायक है, उसे समझता नहीं है और त्याग-वैराग्य में लगकर भी आत्मभान के बिना त्यागी हो जाता है किन्तु इसमें भी धर्म नहीं है और वैराग्य (मंदराग) भी वस्तु का स्वरूप नहीं है। वैराग्य तो पुण्यभाव है, उसमें धर्म नहीं है। संयम का पालन करे, परिग्रह को कम करे, एक बार रसोई बनाकर, उसे दो बार के लिये चलाये, इसमें वह मान बैठा है कि प्रवृत्ति कम हो गई और अमुक रकम से अधिक न रखकर उसमें संतोष मान लेता है, किन्तु आत्मभान के बिना वीतराग की तराजू में उसके त्याग और संतोष इत्यादिक की

धर्म में कोई गिनती नहीं है। वीतराग मार्ग के निर्णय के बिना धर्म हो ही नहीं सकता। आत्मा के निर्णय के बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि समस्त कार्य असत् है।

कुछ लोग कहते हैं कि अरेरे! हमारा सब गलत है? किन्तु यह तो विपरीत मान्यता के ऊपर भयंकर प्रहार हैं। जगत इतनी सी क्रिया करके समझता है कि अब तो मोक्ष हो ही जायगा, किन्तु आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के बिना यह सब असत् है। आत्मा को समझे बिना व्रत, तप इत्यादिक करना बिना इकाई के बिन्दी के समान है। *(मुक्ति का मार्ग में से)*

निश्चय से शुभभाव भी विष है, वह आत्मा के गुण को रोकनेवाला है;
इसलिये आत्मगुण निरोधक भाव को

भला मानना महापाप है

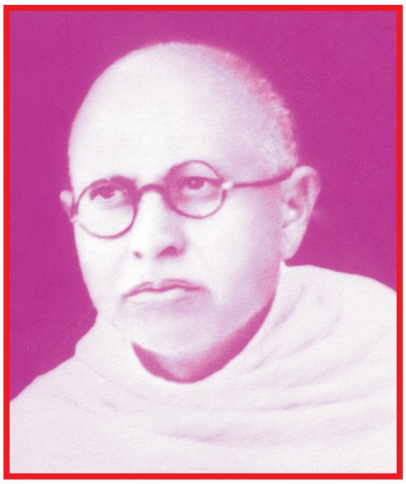

यहाँ उत्कृष्ट समाधिमरण की विधि की चर्चा है। नव पदार्थों में सर्वोत्तम वस्तु आत्मा है, उसके निरावलम्बी स्वरूप में स्थिर हो जाने पर देह का छूट जाना, सो समाधिमरण है।

आध्यात्मिक भाषा की अपेक्षा से अर्थात् अंतर के कथन से 'मैं ध्यान करता हूँ, ध्याता हूँ या ध्येय का लक्ष्य रखता हूँ' ऐसे किसी भी विकल्प से रहित होकर, निर्मल स्वभाव का आश्रय लेकर, सर्वथा आत्मसम्मुख होकर, इंद्रिय और मन से संपूर्ण अगोचर ऐसा आत्मा का ध्यान करके, विभाव और विकल्प से हटकर, भीतर स्थिर हो जाना, सो यही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण समझना चाहिये।

इंद्रिय और मन का जितना अवलंबन होता है, उतना ही आत्मधर्म नहीं होता। इंद्रिय और मन के अवलम्बन से जितना जाना जाता है, वह सब पर जाना जाता है अर्थात् जो कार्य होता है, वह

सब विकार है। इंद्रिय और मन के अवलंबन से जितनी मुक्ति होती है, उतना धर्म है। इंद्रिय और मन वे अपने कारण से होता है किन्तु आत्मा को समझने के लिये तीन काल और तीन लोक में उसका अवलंबन नहीं होता, यह त्रैकालिक सिद्धांत है।

देव, गुरु और शास्त्र यह सब पर हैं। उनके बोध पर लक्ष्य का जाना, वह सब राग है। क्योंकि उसमें इंद्रिय और मन का अवलंबन आते हैं। आत्मावबोध परावलंबन रहित स्वाश्रय से होता है। जितना स्वाश्रय है, उतना ही धर्म है।

निश्चय-उत्तमार्थ प्रतिक्रमण तो निज आत्मा के ही आश्रय से होता है। इंद्रिय और मन के होने के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। केवली के भी इन्द्रिय और मन होता है किन्तु वहाँ उसका अवलंबन नहीं है। इंद्रिय और मन की ओर लक्ष्य करके जो भाव होता है, वह सब विष है। शुभभाव भी विष है। पर से भिन्न आत्मस्वभाव का जितना निश्चय किया, उतना धर्म है। पृथक्त्व की प्रतीति से ही पृथक्त्व का प्रारंभ होता है। एकत्रित मानने पर पृथक्त्व का प्रारंभ नहीं होता।

यदि लोग कहें कि 'यह तो व्याकुलता में डाल देनेवाली बात हुई' तो यह बात ही गलत है। यदि सच्ची व्याकुलता हो तो समझ का मार्ग लिये बिना न रहे। सच तो यह है कि वास्तविक व्याकुलता होती ही नहीं हैं। यदि सच्ची व्याकुलता हो तो यथार्थ उपाय के द्वारा मार्ग निकाले बिना न रहे।

जो निमित्त की ओर उन्मुखता है, सो वह सब राग है। सम्यक् मति या सम्यक् श्रुतज्ञान भी इंद्रिय या मन पर अवलंबित नहीं है, वह आत्मा के ही आश्रय पर है।

निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण आत्मा के ही आधार पर है। वह निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यानमय है इसलिये आत्मा अमृत कुंभ है, अमृत से भरा हुआ सुंदर कलश है, इंद्रियों तथा मन से परे है। जितना इंद्रिय और मन के अवलंबन से पर की ओर लक्ष्य जाता है, वह सब विष है। आत्म-प्रतीति के बाद भी परद्रव्य के आश्रय से जितना भाव होता है, वह सब विष है। वह आत्मा के अमृत कुंभ को रोकनेवाला है।

ज्ञानी के राग विकल्प होता है फिर भी 'राग मेरा स्वरूप नहीं है, मन का अवलंबन नहीं है, विकल्प नहीं है, मैं तो स्वरूप शुद्ध पवित्र हूँ'—ऐसी जो निश्चय की प्रतीति है, सो अमृत है। तथा ज्ञानी का व्यवहार प्रतिक्रमण भी विष है। अंतर स्वरूप में दृष्टि के होने पर भी जितना अवलंबन पराश्रय पर आधार रखता है, वह सब राग है-विष है।

आत्मा, पर से निराला 'सहजानंद सहज स्वरूप' है—ऐसी प्रतीति होने के बाद जब स्थिर नहीं हो सकता, तब बीच में तो व्यवहार प्रतिक्रमण आता है, वह सब ज़हर से भरा हुआ विषकुंभ है, वह अमृत स्वरूप में से हटकर होता है। जहाँ ज्ञानी के व्यवहार प्रतिक्रमण को भी विष कहा है, वहाँ अज्ञानी का व्यवहाराभास प्रतिक्रमण तो विष होता ही है, इसमें क्या कहना ?

आत्मा की प्रतीति के बाद स्थिर होने से पूर्व जो बीच में शुभभाव आता है, वह भी विष है। उन सब से रहित आत्मस्वरूप में स्थिरता का होना, सो अमृत है। यहाँ शुभभाव को भी विष कहा है, इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानी को शुभभाव छोड़कर अशुभ में जाना चाहिये, किन्तु शुभभाव में धर्म मानने का ही यहाँ निषेध किया है। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है, किन्तु उससे धर्म नहीं होता, वह विष है। आत्मा त्रिकाल सहज अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति है। उसका ज्ञान में सम्यक्त्वी ज्ञानी के चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में जो शुभ विचार आते हैं, वह सब विष है। 'विपरीत श्रद्धा का त्याग करूँ—कुदेवादि की ओर जो लक्ष्य है, उसे त्याग दूँ और सच्चे गुरु की श्रद्धा करूँ' यह सब विकल्प भी विष है। श्री समयसारजी में कहा है कि—

''पडिकमणं परिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो॥३०६॥''

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि यह आठों प्रकार विष हैं।

(१) प्रतिक्रमण—अशुभ से छूटकर शुभ में आना।

(२) प्रतिसरण—सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा होना। मिथ्या श्रद्धा को छोड़ दूँ और सम्यक् श्रद्धा करूँ—ऐसी भावना का होना।

(३) परिहार—मिथ्यात्वादि दोषों के निवारण करने का विकल्प।

(४) धारणा—नमस्कार मंत्रों की जाप, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्यों के निमित्त से चित्त की स्थिरता करने का विकल्प।

(५) निवृत्ति—विषय-कषायादि की इच्छा में प्रवर्तमान मन को खींच लूँ, ऐसा विकल्प।

(६) निंदा—आत्मसाक्षीपूर्वक दोष को प्रगट करूँ, दोष की निंदा करूँ, ऐसा भाव।

(७) गर्हा—गुरु साक्षीपूर्वक दोष को प्रगट करूँ, ऐसा भाव।

(८) शुद्धि—जो दोष हुये हों, उनका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करूँ, ऐसा भाव।

उपर्युक्त आठों ही प्रकार विष हैं। ज्ञानी की अंतरदृष्टि में समस्त राग का निषेध करके बीच में (अस्थिरता में) जो शुभ विकल्प आ जाता है, वह विष है।

प्रश्न—प्रारंभ में तो शुभभाव से लाभ होता है न!

उत्तर—शुभभाव से आत्मा को लाभ हो ही नहीं सकता। पहले से ही शुभभाव विष है।

महाव्रत पालने का विकल्प सहित समस्त शुभभाव तीन लोक के तीर्थंकर देव से लेकर समस्त ज्ञानियों के भी विष हैं। अज्ञानी की तो यहाँ बात ही नहीं हैं। प्रारंभ में भी शुभभाव सहायक होते हैं—ऐसा माननेवाला महापापी है। श्री योगसार में कहा है कि—

पुण्य पुण्य को सब कहें, पाप कहें सो पाप।
पंडित अनुभवि जन सहु कहें पुण्य भाव भी पाप॥

अर्थ—पुण्य को पुण्य तो सभी कहते हैं और पाप को सब पाप कहते हैं किन्तु ज्ञानी निश्चय से शुभभाव को भी पाप कहते हैं। शुभभाव से आत्मा को परंपरा से लाभ होता है; इस प्रकार की मान्यता निश्चय से निगोद गति का कारण है।

प्रश्न—शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को परंपरा से धर्म का कारण कहा है न?

उत्तर—वहाँ इस अपेक्षा से कथन है कि आत्मा के अंतर स्वरूप की प्रतीति में ज्ञानी के समस्त शुभाशुभ का निषेध पाया जाता है, वहाँ पर वर्तमान अस्थिरता के कारण अशुभ को छेदने के लिये शुभराग आता है किन्तु दृष्टि में उसका निषेध पाया जाता है। इसलिये अल्प काल में स्थिरता के द्वारा वह शुभ को छेदकर वीतराग हो जानेवाला है, इस अपेक्षा से शुभ को परंपरा से धर्म का कारण कहा है। 'परंपरा' का अर्थ है 'उसका क्रम-क्रम से छेद करके।' सम्यक्त्वी के शुभभाव में कर्तृत्व की बुद्धि नहीं है फिर भी वह बीच में आती है, सो वह अस्थिरता है; इसलिये वह विष है। वह शुभ को स्थिरता के द्वारा छेद करेगा, तब शुभ का अभाव स्थिरता में कारण रूप होगा। जहाँ शुभ को परंपरा से कारण कहा गया हो, वहाँ ऊपर के अनुसार समझना चाहिये।

निश्चय से शुभभाव भी विष है, वह आत्मा के गुण रोकनेवाला है। जो आत्मा के गुण को रोकता है, उस भाव को अच्छा मानना, सो महापाप है। बीच में जो शुभ या अशुभभाव आते हैं, उन दोनों का ज्ञानियों के निषेध पाया जाता है। जो शुभभाव को अपना कर्तृत्व मानता है—सहायक मानता है, उसे महापापी कहा है। तब फिर जो अशुभभाव को करने योग्य मानता है, उसकी तो बात ही कहाँ रही।

शुभाशुभ समस्त भाव, बंध के ही कारण हैं। समयसारजी (कलश १८९) में कहा है कि—

यत्र प्रतिक्रमण मेव विषं प्रणीतं तत्रा प्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः॥

यहाँ पर निश्चयनय से शुभभाव को विष कहा है, इसलिये यदि कोई अज्ञानी विपरीत समझकर शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करे तो ऐसे अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि —ज्ञानी के अंतर में स्वरूप का भान है किन्तु वह अभी स्थिर नहीं रह सकता, तब वह शुभभाव में प्रवृत्ति करता है; उस शुभभाव को विष कहा है और उस शुभभाव को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने को कहा है। किन्तु शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव में जाने के लिये तो व्यवहार में भी नहीं कहा है। जहाँ पर आत्मा की प्रतीति सहित शुभभावरूप व्यवहार प्रतिक्रमण को भी विष कहा है, वहाँ जिसके व्यवहार या निश्चय दो में से कोई भी प्रतिक्रमण नहीं है और जो मात्र अशुभ में ही विद्यमान है, उसे अमृत कौन कहेगा ?

यह आत्मा के घर की बात है, वह अनादि के अपरिचय के कारण मुश्किल मालूम होती है किन्तु वास्तव में मुश्किल नहीं है। जैसे नट को थाली में शीर्षासन लगाकर डोरी पर चलना सरल है—उसे अनुभव के कारण वह काम तनिक भी मुश्किल नहीं मालूम होता, किन्तु दूसरों को वह काम मुश्किल मालूम होता है; उसी प्रकार आत्मा का धर्म भी सहज है, किन्तु अनादि काल से उसका परिचय नहीं है; इसलिये मुश्किल मालूम होता है, किन्तु यदि परिचय करे तो सहज है, मुश्किल नहीं है।

आत्मस्वभाव को पहिचानने के बाद उसमें स्थिर नहीं हो सकता, उस समय के शुभभाव को विष कहा है। यहाँ पर शुभभाव को विष कहा है; इसलिये इसका अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि शुभ को छोड़कर अशुभ करने के लिये कहा गया है। क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों विष हैं। आत्मस्वरूप ही अमृत है; इसलिये शुभ को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाने के लिये कहा है।

श्री समयसार कलश १८९ में श्री अमृतचंद्र-आचार्यदेव आश्चर्य से कहते हैं कि:—

अरे! स्वरूप की स्थिरता कराने के लिये हम शुभ छोड़ने को कहते हैं और इस प्रकार हम इस प्राणी को आगे ही आगे ले जाना चाहते हैं उसकी जगह यह प्राणी (अज्ञानी जीव) प्रमादी होकर नीचे ही नीचे क्यों गिरता जा रहा है ?

'शुभभाव से धर्म नहीं होता'। यह कहकर धर्म के स्वरूप की पहिचान करायी गई है कि शुभभाव में धर्म की मान्यता को छोड़ दे किन्तु यहाँ यह नहीं कहा गया है कि 'शुभभाव को छोड़कर अशुभ कर।' निर्मल पर्याय अंतर से प्रगट होती है; बाहर के आश्रय से नहीं आती। समस्त शुभभाव पर के आश्रय से होता है, उसमें धर्म नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि 'शुभ से धर्म नहीं होता, इसलिये अशुभ कर' फिर भी यदि कोई उल्टा मान कर अशुभ में प्रवृत्ति करे तो वह उसके लिये स्वतंत्र है। अनंत काल में यदि नहीं समझ सका तो कब समझेगा? इसको समझे बिना जनम-मरण का अंत नहीं हो सकता—धर्म नहीं पा सकता। भले शुभभाव करे, किन्तु ऐसे शुभभाव तो अनंत बार कर चुका है और इस जीव ने ऐसे ऊँचे शुभभाव किये हैं कि जिनके फलस्वरूप अनंत बार नवमी ग्रैवेयक तक हो आया है। वर्तमान में ऐसे ऊँचे शुभभाव भरतक्षेत्र में तो कोई कर नहीं सकता। ऐसे सब शुभभाव किये, फिर भी आत्मप्रतीति के बिना जन्म-मरण दूर नहीं हुआ, क्योंकि धर्म का और पुण्य का मार्ग अलग-अलग है।

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप

—संक्षिप्त अर्थ—

निश्चय—स्वाधीनभाव।

व्यवहार—पराधीनभाव।

मुमुक्षुओं! विचार करो कि पराधीनभाव आत्मा को लाभ करता है या पराधीनभाव टूटे तथा स्वाधीनभाव प्रगट हो तो वह आत्मा के लिये लाभ कारक है।

उत्तर—स्वाधीनभाव।

आचार्यदेव कहते हैं कि —हमने स्वरूप में स्थिरता कराने के लिये शुभ को छोड़ने का उपदेश किया है, तब फिर व्यवहार प्रतिक्रमण को छोड़कर स्वरूप में स्थिरता क्यों नहीं करते? शुभ करते-करते शुद्ध हो जाने की बात तीन लोक और तीन काल में नहीं हुई किन्तु शुभ का अभाव करने पर शुद्ध होता है। यहाँ अशुभ की तो बात ही नहीं है।

यहाँ तो जन्म-मरण का अंत करने की अपेक्षा से बात है। यहाँ धर्म बतलाना है, उसमें शुभ या अशुभ दोनों विष हैं। 'वीतरागदेव के द्वारा कहा गया व्यवहार का मार्ग नौ* प्रकार से मैंने कभी

---

*नौ प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) शुभभाव मन से किये नहीं (२) कराये नहीं (३) अनुमोदे नहीं, (४) वचन से किये नहीं, (५) कराये नहीं, (६) अनुमोदे नहीं, (७) काय से किये नहीं, (८) कराये नहीं, (९) अनुमोदे नहीं।

किया ही नहीं है।' जब ऐसी भावना करता है तब भी विकल्प तो होता ही है, फिर भी दृष्टि में निषेध विद्यमान है।

जब धर्म की बात की जाती है, तब शुभ और अशुभ दोनों को छोड़ने के लिये कहा जाता है और जब किसी को मात्र अशुभ से छुड़ाने की बात कही जाती है, तब कहा जाता है कि भाई, इस पाप भाव को छोड़कर शुभभाव को कर, इस से तुझे लाभ होगा। वहाँ पर शुभ से वास्तव में तो लाभ नहीं है, किन्तु पहले उसे अशुभ से छुड़ा कर शुभ करने के लिये कहा जाता है। मात्र अशुभ का त्याग करने के लिये शुभभाव व्यवहार से उपादेय है और क्योंकि व्यवहार से उपादेय है, इसलिये निश्चय से (वास्तव में) उपादेय नहीं है। जो अशुभ में प्रवर्तमान है, उसे सर्व प्रथम अशुभ से छुड़ाकर उसके बाद शुभ और अशुभ दोनों से छुड़ाया जाता है। अशुभ से छूट कर शुभ करने में कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं है। अशुभ को छोड़कर शुभ के फल में स्वर्ग में यह जीव अनंत बार हो आया है। नर्क के भवों की अपेक्षा स्वर्ग के भवों को यह जीव अनंत बार ग्रहण कर चुका है। यहाँ पर धर्म की बात में शुभ और अशुभ दोनों को छोड़ने के लिये कहा गया है। शुभ के छोड़ने में अनन्त पुरुषार्थ है।

नियमसार की ५० वीं गाथा की टीका में कहा गया है कि—मोक्षमार्ग-सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की कितनी निर्मल पर्याय है, वह भी व्यवहार से आदरणीय है। निश्चय से तो शुद्ध स्वरूप ही आदरणीय है। मोक्षमार्ग व्यवहार से आदरणीय है, अर्थात् निश्चय से आदरणीय नहीं है।

अब तो सब स्पष्ट प्रगट हो चुका है, कुछ भी अप्रगट नहीं रखा है। त्रिकाल सत्य बात चौड़े में रख दी गई है। मार्ग बिल्कुल सीधा और सरल है। सम्यक्त्व से लेकर केवलज्ञान तक बीच में कहीं कोई कठिनाई नहीं है, सरल मार्ग है। यह ऐसा निश्चय मार्ग है कि जहाँ संसार और आत्मा का भेद बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। टीकाकार कहते हैं कि—

आत्मध्यानाद परमखिलं घोर संसार मूलं
ध्यानध्येय प्रमुख सुतपः कल्पना मात्र रम्यम्।
बुद्धाधीमान् सहज परमानंद पीयूष पूरे
निर्मज्जन्तं सहज परमात्मानमेकं प्रपेदे॥

आत्मा के ध्यान के सिवाय अन्य समस्त ध्यान, घोर-भयंकर संसार के कारण हैं। ध्यान-ध्येय इत्यादि का विकल्परूप तप अर्थात् 'मैं ध्यान करता हूँ, मैं पूर्ण शुद्ध स्वरूप हूँ' सभी विकल्प

कथन मात्र के लिये सुंदर हैं। वास्तव में उनमें कोई यथार्थता नहीं है। आत्मा के आनंदस्वरूप का स्वाश्रय व्यवहारनय का समस्त विषय व्रत, तप, नियम के समस्त विकल्प कल्पनामात्र-रम्य (सुंदर) हैं। निश्चय से उनमें कोई लाभ नहीं; व्यवहार से लाभ है, यों कहा जाता है किन्तु व्यवहार दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है और निश्चयदृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। भंग-भेद सब व्यवहार है, उसमें लाभ मानना सो अज्ञान है। सच्ची समझ ही धर्म है। यदि बीच में कोई गड़बड़ कर दी तो कहीं भी उद्धार का अवसर नहीं है।

टीकाकार की भाषा कड़ी है, नि:संकोच स्पष्ट कह दिया है।

यह समझकर बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परम आनंदरूपी अमृत से भरे हुये समुद्र में डूबे हुये परम उत्कृष्ट एकरूप सहज स्वाभाविक आत्मा का अनुभव करते हैं।

निश्चय व्यवहार का स्वरूप

—संक्षिप्त अर्थ—

निश्चय—स्वावलंबीभाव।

व्यवहार—परावलंबीभाव।

मुमुक्षुओं विचार करो कि दो में से कौन सा भाव आत्मा के सुख का कारण हो सकता है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि परावलंबी भाव से आत्मा का लाभ नहीं हो सकता और स्वावलंबी भाव से आत्मा को सुख हुये बिना नहीं रह सकता।

सहज—सहज शब्द का प्रयोग तो हजारों बार किया है किन्तु वह किसी हठ से नहीं लेकिन वह स्वरूप से ही सहज है। सहज करने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पुरुषार्थ में सहज है। वह हठ से नहीं होता, इस अर्थ में आचार्य ने सहज शब्द का प्रयोग बारम्बार किया है।

सच्चा ज्ञान आकुल नहीं होने देता, वह समाधान कर देता है। राग के समय, राग के निमित्त होते तो हैं किन्तु राग के कारण न तो निमित्त आते हैं और न निमित्त के कारण राग होता है। सम्यग्दृष्टि के पूर्ण वीतरागता न होने पर बीच में शुभराग आता तो है किन्तु उससे जो धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। व्रत, तप, सब राग है, वह अस्थिरता है। अस्थिरता सुंदर नहीं होती।

जब तक यथार्थ श्रद्धा से यह बात नहीं समझी जाती, तब तक जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। इतना ही नहीं, किन्तु वर्तमान में भी उसके समाधिमरण नहीं होता। जिसे यथार्थ प्रतीति होती है, उसे मरण के समय स्वरूप की रमणता में 'पंडित मरण' होता ही है। जब मरण का अवसर

आता है, तब ज्ञानी, स्वभाव की शांति का श्वास लेते हैं और शरीर छूट जाता है। भले ही बाहर से रोग प्रतीत हो, किन्तु वह भीतर स्वरूप की स्थिरता से चलायमान नहीं होता और जब अज्ञानी के मरण का अवसर आता है, तब वह देह का लक्ष्य करके रो-रोक कर मरता है। ज्ञानी के स्वरूप की भावना के पक्व होते होते जहाँ विकल्प छूट जाता है, वहाँ शरीर छूट जाता है। यहाँ पर निर्विकल्प दशा से युक्त पंडित मरण की बात है। इसलिये छट्ठे गुणस्थान में विकल्प सहित दशा में शरीर भले ही न छूटे किन्तु सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प दशा में स्थिर होने पर शरीर छूट जाता है। यहाँ पर उसी समाधिमरण को लिया गया है, यहाँ उत्कृष्ट पंडित मरण की बात कही गई है।

देह के संयोग के साथ ही वियोग निश्चय से है, ऐसी वियोग से पहले प्रतीति होती है। स्वरूप की स्थिरता में भीतर जहाँ चैतन्य का गोला अलग हुआ कि वहाँ शरीर छूट जाता है, यह समाधिमरण है। ध्यान ध्येय का भेद ही नहीं किन्तु पंडित मरण के समय शुभ से छूट कर समस्त विकल्प छूट जाते हैं और भीतर स्थिर हो जाता है, यही उत्कृष्ट उत्तमार्थी प्रतिक्रमण है। यहाँ उत्कृष्ट की ही बात ली गई है, पुरुषार्थ की कमी की बात नहीं ली है। स्वरूप के आनंद में रमण करता हुआ चला जाता है, देह की खबर भी नहीं है, देह को छोड़ते हुये स्वरूप का अधिक आनंद है, पर का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने के बीज बोये हैं; इसलिये मरण के समय उसके फलस्वरूप स्वरूप के आनंद में रमण करते हुये शरीर छूट जाता है, यही उत्कृष्ट पंडित मरण है।

परिभ्रमण का कारण

श्री समयसार, गाथा-३९० से ४०४ पर

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

प्रत्येक पदार्थ की अवस्था होती है, वह आत्मा के ज्ञान की पर्याय से पृथक् ही है।

रस—रस जड़ की अवस्था है। रस, जीभ का स्पर्श करता है, इसलिये रस का ज्ञान होता है, यह बात नहीं है, किन्तु उस समय आत्मा के ज्ञान की उस प्रकार की अवस्था है। रस तो जड़ है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सब जानता है; इसलिये ज्ञान और रस में पृथक्त्व है, यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

ज्ञान में जैसी जानने की अवस्था हुई, उसी प्रकार के रस की सामग्री उस समय जिह्वा को स्पर्श करती है, किन्तु उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का ज्ञान आत्मा से हुआ है, ज्ञान की उस समय की अवस्था हुई है। ज्ञान और रस दोनों स्वतंत्र हैं। जीभ और रस दोनों जड़ की अवस्था हैं, उनके द्वारा ज्ञान नहीं जानता। ज्ञान का अपने द्वारा ही जानने का स्वभाव है। जब ज्ञान गुण अपने कारण से परिणमता है, तब सामने उसी प्रकार की वस्तु होती है, फिर भी न तो रस के कारण ज्ञान है और न ज्ञान के कारण रस है।

अहा! कितनी स्वतंत्रता है। रस की अवस्था भिन्न है और आत्मा के ज्ञान की अवस्था भिन्न है, यों जिनेन्द्रदेव ने देखा है। पर के कारण से मेरे ज्ञान की अवस्था नहीं है। 'स्व' से अवस्था हुई है, यह जानकर 'पर' से उदास रहना चाहिये (मात्र ज्ञान करना चाहिये) उसमें अच्छा या बुरापन करने का स्वरूप ज्ञान का नहीं है। आत्मा तो जानता है, कुछ करता नहीं है।

अच्छा या बुरा किसे कहा जाय? परवस्तु में तो यह लिखा नहीं होता कि यह अच्छी है और वह खराब है तथा अच्छा या बुरा करना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। परवस्तु में अच्छा या बुरा मान लेना, सो संसार है। पर के कारण मुझे ज्ञान हुआ है तथा मेरी अवस्था पराधीन हुई है, यों मानना ही परिभ्रमण का कारण है।

रस पर है, तेरा स्वभाव तुझमें है; रस में गृद्धि करना, सो मूढ़ता है। रस, जड़ की अवस्था है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सब कुछ जानता है; इसलिये ज्ञान और रस पृथक् हैं, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

प्रश्न—क्या ज्ञानी रस को खाते-पीते नहीं होंगे ?

उत्तर—ज्ञानी चक्रवर्ती होते हैं, किन्तु जब तक राग है, तब तक खाते-पीते तो हैं, किन्तु अंतर में यह प्रतीति होती है कि 'यह राग मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा आत्मा पवित्र आनंदमूर्ति है, यह सब संयोग पूर्व के कारण से हैं। अवस्था में जो राग है, वह मेरे पुरुषार्थ की वर्तमान अशक्ति है। वह राग अथवा वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति मेरा स्वरूप नहीं है। परवस्तु मेरी नहीं है, परवस्तु से मुझे न तो राग है और न परवस्तु से मेरा ज्ञान ही है और मेरे स्वभाव में आनंद की कचाई नहीं है।' जब कोई बाहर से त्यागी होकर बैठा होता है किन्तु भीतर से यह मानता है कि 'परवस्तु के कारण राग होता है' और पर के कारण से ज्ञान मानता हो तो वह अज्ञानी है। उसका त्याग सच्चा त्याग नहीं है।

स्पर्श—स्निग्ध और कर्कश इत्यादि सभी स्पर्श जड़-परमाणु की अवस्था है। उस स्पर्श के कारण से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो स्वतंत्र स्वभाव है। उस समय ज्ञान विशेषरूप से परिणमता है। स्पर्श जड़ की अवस्था है। मेरे ज्ञान की अवस्था मेरे अंतर से परिणमन करती है, स्पर्श के कारण से मेरे ज्ञान की अवस्था नहीं होती; इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान और स्पर्श के पृथक्त्व की प्रतीति है।

कबीर की एक सुप्रसिद्ध घटना है कि एक बार वे घूमने को निकले, जब कि लोग सो रहे थे, तब उनने कहा कि —

''सुखी है सब संसार, खा पीकर के सोता है।
दुःखी है दास कबीर जब जागे तब रोता है॥''

यह समस्त संसार सुखी मालूम होता है, वह खा पीकर के सो रहा है; मात्र मैं ही दुःखी हूँ क्योंकि मैं जब जाग कर देखता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि मेरा एक-एक समय चला जा रहा है, मानों मेरे अनंत जन्म-मरण को दूर करने का सुयोग ही चला जा रहा है। मुझे जन्म-मरण को दूर करने की चिंता लग रही है और इन लोगों को जन्म-मरण को दूर करने को चिंता नहीं है, इसलिये वे सो रहे हैं। इस प्रकार कबीर ने वैराग्यपूर्वक कहा है।

गर्मी के दिनों में दो रुपया सेर के आम खाकर और दो मन के रेशमी गद्दे पर स्निग्ध स्पर्श का उपभोग करता हुआ पड़ा है और उसमें शांति मान रहा है, किन्तु स्पर्श से आत्मा को शांति और ज्ञान नहीं होता। आत्मा को शांति और ज्ञान भीतरी एकाग्रता से होता है।

बेचारे रेशमी गद्दे को तो खबर ही नहीं है कि स्वयं कौन है और किस अवस्था में है; उसे

जाननेवाला आत्मा है, किन्तु उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। स्पर्श जड़ है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान चेतनस्वरूप है, वह सब कुछ जानता है। इसलिये स्पर्श और ज्ञान दोनों भिन्न हैं, यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

कर्म—याद रखो कि कर्म जड़ हैं, उनके कारण से ज्ञान की अवस्था नहीं है, किन्तु उस समय की स्व-पर प्रकाशकत्व की शक्ति में कर्म की अवस्था को जाननेवाले ज्ञान की ही पर्याय विकसित हुई है। कर्म को जानने का ज्ञान का स्वभाव है। कर्म के कारण ज्ञान नहीं जानता; ज्ञान तो ज्ञान के कारण जानता है।

ज्ञानावरणीयकर्म—कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है। कर्म किंचित्मात्र भी नहीं जानता और ज्ञान सबकुछ जानता है। तूने जब ज्ञान में कर्म का लक्ष्य किया कि—'ज्ञानावरणीय कर्म आड़े आता होगा, इसलिये ज्ञान नहीं खिलता' तब कहते हैं कि सुन! तेरे ज्ञान की उस समय की अवस्था ही स्व-पर को जाननेवाली है, इसलिये वह कर्म को जानता है, वहाँ तेरे ज्ञान की सामर्थ्य है, तूने अपने ज्ञान की अवस्था की ओर न देखकर कर्म के ऊपर लक्ष्य किया और अपने ज्ञान की अवस्था की प्रतीति नहीं की, यह दृष्टि की ही भूल है।

कोई कहे कि—दबे हुये कर्मों का उदय कौन-सा होगा, यह कौन जाने? उसके लिये कहते हैं कि—जब तुझे ऊपर का विचार आया, तब तेरे ज्ञान में द्विरूपता हुई, एक तो तेरे ज्ञान का ज्ञान और दूसरा कर्म का ज्ञान। तूने इन दोनों का ज्ञान किया। कर्म तेरे ज्ञान को नहीं रोकता, कर्म तो तेरे ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय वस्तु, ज्ञान को नहीं रोकती किन्तु वह ज्ञेय है। यदि ज्ञेय वस्तु, ज्ञान में बाधक होने लगे तो केवली को लोकालोक ज्ञेय है, वह उसके ज्ञान में बाधक होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि ज्ञेय वस्तु, ज्ञान में बाधक नहीं है।

जब शरीर में रोग आता है, तब जिसे यह विचार होता है कि 'यह असाता क्यों?' वह अपने ज्ञान की उस समय की विशेष अवस्था को अस्वीकार करता है। तू तो मात्र ज्ञान करनेवाला है। शरीर में असाता आई है, इसे तेरे ज्ञान ने जाना, वहाँ जानने में असाता कहाँ बाधक हुई? यह भी सत्य नहीं है कि साता अच्छी होती है और असाता खराब।

आत्मा का स्वभाव है ज्ञान; उसमें जो साता-असाता मालूम होती है, वह ज्ञान की उस समय की सामर्थ्य शक्ति है, उस ज्ञान की शक्ति की ओर लक्ष्य न करके जो यह मानता है कि 'परवस्तु ज्ञान में आई, इसलिये मेरा विचार बदल गया' वह ज्ञेय के कारण ज्ञान की अवस्था को

मानता है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय की एकता को मानता है, यही अधर्म है और यह मान्यता बदल गई कि मैं तो जाननेवाला ही हूँ तो यह धर्म का कारण है। यहाँ मात्र मान्यता को ही बदलना है, बाह्य में कुछ करना नहीं है। बारम्बार यही श्रवण, यही मनन और यही श्रद्धा मजबूत होती जानी चाहिये। बारम्बार वस्तु की स्वाध्याय और ध्यान करनी चाहिये। निरंतर इसी का श्रवण-मनन होना चाहिये।

यदि कोई कहे कि पहले मैंने बहुत क्रोध कषाय की होगी, इसलिये वर्तमान में क्षमा नहीं रह पाती तो उसकी यह बात गलत है। वर्तमान में उसने क्या किया ? मात्र कर्म का ज्ञान ही किया है। ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, ज्ञान की उस समय की अवस्था वही याद आये ऐसी थी, तू अपनी उसी अवस्था का ज्ञान कर। कर्म तो ज्ञेय है, जड़ है। वे कुछ भी नहीं जानते और आत्मा का ज्ञान तो सब कुछ जानता है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि — कर्म और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं। ज्ञान और कर्म भिन्न हैं, तू यह ज्ञान क्यों नहीं करता।

नामकर्म की यशप्रकृति अथवा अपयशप्रकृति तेरे ज्ञान का ज्ञेय है, तेरे ज्ञान के लिये हानि कर्ता नहीं है।

सातों नरक के समस्त जीवों का शरीर नपुंसक है। पहले इतने जोर से विपरीत वीर्य डाला है कि वीर्यहीन-नपुंसक हो गये हैं और देवों में किसी के नपुंसकवेद होता ही नहीं है क्योंकि उनमें अशुभ में अल्प वीर्य का संबंध किया है। इसलिये वे नपुंसक नहीं होते। जगत की व्यवस्था ही ऐसे नियम वाली है।

कर्म और आत्मा त्रिकाल में भिन्न हैं। कर्म, आत्मा की कोई हानि नहीं करते और आत्मा की सत्ता कर्म पर नहीं चलती; मात्र आत्मा तो जानता है, कर्म ज्ञेय है।

शास्त्र में जब कर्म को सिद्ध करना होता है, तब यों आता है कि 'ज्ञानावरणी कर्म आत्मा के ज्ञान को रोकता है' यह बात निमित्त से है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—जब कर्म को सिद्ध करना हो, तब एक बार यह निश्चय किया कि अब राग नहीं करना है, फिर भी यदि दूसरे क्षण राग आये तो समझना चाहिये कि उस समय आत्मा के पास दूसरी वस्तु है और वह वस्तु है कर्म। वहाँ यह नहीं कहा है कि कर्म ने राग को कराया है किन्तु 'कर्म वस्तु है' यह सिद्ध करने को कहा है।

'राग नहीं करना है' ऐसा निर्णय करनेवाला तू है, फिर भी राग होता है, वहाँ पर तेरी अस्थिरता से दूसरी वस्तु पर लक्ष्य करने से तेरे राग होता है। यदि वस्तु न हो तो तेरा लक्ष्य चूककर दूसरी वस्तु पर लक्ष किये बिना राग नहीं हो। अन्य वस्तु राग नहीं कराती।

पंचेन्द्रिय और मन से होनेवाले ज्ञान का विकास कदाचित् कम हो, फिर भी अंतर स्वरूप की श्रद्धा कर। अंतर स्वरूप की श्रद्धा और एकाग्रता करके केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। केवलज्ञान होने से पूर्व उन्हें भी (केवली होनेवाले को भी) पर का बोध (बाहर का ज्ञान) कम होने पर भी अंदर की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता से केवलज्ञान होता है।

जब-जब कर्म याद आये, तब-तब कर्म पर भार न देकर यह तो मेरे ज्ञान की अवस्था की शक्ति है, इस प्रकार अपने ज्ञान की और लक्ष्य कर।

कोई कहता है कि—शास्त्र में कर्म की स्थिति की बात आती है न? वहाँ पर तो कर्म की स्थिति यह बताने के लिये कहा है कि 'यदि ऐसा ही भाव रखा करे तो इतने समय तक टिकेगा।' विपरीत भाव तो एक समयमात्र के लिये है। संसार एक ही समयमात्र के लिये है।

'यदि मेरा अनंत संसार होगा तो? मेरे कर्म की लंबी स्थिति होगी तो?' इस प्रकार का जो विकल्प आया, सो उसमें तेरे ज्ञान में उस विकल्प का ज्ञान ही हुआ है, वहाँ ज्ञान में अनंत संसार आया नहीं है किन्तु अनंत का ज्ञान किया है। अनंत का ज्ञान करने में ज्ञान को अनंत भव नहीं लगते तथा ''कर्म स्थिति लंबी होगी तो?'' इस प्रकार कर्म की ओर देखने की अपेक्षा जो तेरी स्थिति अनादि-अनंत है, उसकी ओर क्यों नहीं देखता? कर्म तो तेरे ज्ञेय है, वे तुझसे भिन्न वस्तु है।

'पृथक्त्व की श्रद्धा पृथक् होने का (मोक्ष का) उपाय है और पर के साथ जो संयोग बुद्धि है, वह संयोग (संसार) का कारण है।'

धर्मद्रव्य—चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सर्वज्ञ भगवान के द्वारा देखा हुआ अरूपी अचेतन द्रव्य है, उसमें ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सबकुछ जानता है। धर्मद्रव्य लक्ष्य में आया, इसलिये ज्ञान हुआ—ऐसी बात नहीं है, किन्तु तेरे ज्ञान की पर्याय ही ऐसी है कि जो लक्ष्य में ले उसका ज्ञान उस समय तेरे ज्ञान से होता है। तेरे ज्ञान की पर्याय चेतन है और धर्मास्ति अचेतन है, दोनों अलग हैं, यह श्री जिनदेव ने कहा है।

सर्वज्ञ भगवान के सिवाय धर्म, अधर्मद्रव्य को कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता और जैन के अतिरिक्त अन्य कोई इसके संबंध में चर्चा भी नहीं कर सकते (अर्थात् अन्य चार द्रव्यों के संबंध में तो चर्चा करके अनुमान से भी मान लें, किन्तु इस धर्मास्ति और अधर्मास्ति की तो चर्चा भी नहीं कर सकते।)

तेरे ज्ञान की अवस्था की शक्ति ही ऐसी है कि उस समय तुझे धर्मास्ति द्रव्य लक्ष्य में आया,

किन्तु तेरा ज्ञान धर्मास्ति द्रव्य के कारण नहीं हुआ, उस धर्मद्रव्य में ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता भी नहीं है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह सबकुछ जानता है, इसलिये ज्ञान अलग है और धर्मद्रव्य अलग है, यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अधर्मद्रव्य— यह भी धर्मास्ति द्रव्य की तरह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त, अरूपी अजीव द्रव्य है जिसे सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वह अचेतन है, कुछ जानता नहीं है तथा ज्ञान सब जानता है, इसलिये जिनदेव कहते हैं कि ज्ञान और अधर्मद्रव्य त्रिकाल भिन्न है।

धर्म और अधर्म दोनों वस्तुएँ सर्वज्ञ के ज्ञान में त्रैकालिक सिद्ध हो चुकी हैं। जब वह तेरे ज्ञान में आती है, तब वह तेरे ज्ञान की ही अवस्था है। धर्म अथवा अधर्मद्रव्य के कारण तेरा ज्ञान नहीं है।

कालद्रव्य— यह अजीव अरूपी अनंत गुण का पिंड वस्तु है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु स्थित है। वे कालाणु असंख्यात हैं, अचेतन हैं। वे बिल्कुल कुछ नहीं जानते और ज्ञान सबकुछ जानता है। इसलिये ज्ञान अलग है और कालद्रव्य अलग है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि कालस्थिति के पकने पर मोक्ष होता है। कालस्थिति तेरे पुरुषार्थ से पकती है। तु पुरुषार्थ कर तो कालस्थिति पकी ही पड़ी है। जैसे चावल की बोरी भरी रखी हो तब कोई वह नहीं पूछता कि 'यह चावल कब पकेंगे ?' किन्तु पतेली में डालकर चूल्हे पर रखने के बाद ही यह देखा जाता है कि 'अब कितनी देर लगेगी ?' इसी प्रकार आत्मा की स्वभाव की श्रद्धा करे, ज्ञान करे तो उसके बाद स्थिरता करने में कितना समय लगेगा—यह देखना होता है, किन्तु ज्ञान की स्वसामर्थ्य की प्रतीति तो न करे और कहे—काल बाधक हो रहा है—यह बात कहाँ से लाया ? काल आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। काल को याद करने की सामर्थ्य तेरे ज्ञान की है। कालद्रव्य जगत की त्रिकाली अचेतन वस्तु है और आत्मा ज्ञानस्वभावी है। कालद्रव्य से ज्ञान नहीं हुआ; काल और ज्ञान दोनों पृथक् हैं, यह श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

प्रत्येक वस्तु अपने कारण से बदलती है, तब काल तो निमित्त है, मात्र मौजूद है। काल मुझे हानि करता है, यों माननेवाला आत्मा के स्व-पर प्रकाशक ज्ञानगुण की प्रतीति नहीं करता। स्वभाव की प्रतीति ही मोक्ष है और स्वभाव को पराधीन मानना ही संसार है।

'मेरा कितना काल बाकी होगा'—ऐसी कल्पना करते समय भी ज्ञान की ही सामर्थ्य मौजूद है। 'सर्वज्ञ भगवान ने मेरा कितना काल देखा होगा ?' जहाँ ऐसी कल्पना की, वहाँ क्या किया ? सो सुनः—

एक तो सर्वज्ञ के ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति अपने ज्ञान में याद की है। तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति नहीं है, इसलिये तुझे ऐसा लगता रहता है कि 'भगवान ने मेरा काल अधिक देखा होगा तो ?' इस प्रकार पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वहाँ तेरे ज्ञान में तूने काल को, सर्वज्ञ को और अपनी पर्याय की शक्ति को याद किया है।

प्रभु! तेरी प्रभुता समय-समय पर तेरी पर्याय में ही व्याप्त है। तेरी पर्याय की स्व-पर प्रकाशकत्व की शक्ति है, उस शक्ति को न मानकर ज्ञेय के साथ एकत्वबुद्धि मानता है, वह बंध-मार्ग है। जब तूने ज्ञेय के कारण हानि को माना तो इससे ज्ञात होता है कि तूने अपने ज्ञान की शक्ति को नहीं माना। जिसने ज्ञेय के कारण राग-द्वेष को माना, उसे राग-द्वेष हुये बिना नहीं रहेगा। जिसकी जैसी मान्यता होती है, उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है।

मेरे ज्ञान की स्वाधीन पर्याय को कोई रोकने के लिये समर्थ नहीं है। भगवान सर्वज्ञ हैं, उनके न तो भव है और न राग विकार। जिस ज्ञान ने इस प्रकार सर्वज्ञ के स्वरूप का निर्णय किया है, उसमें यह बात कहाँ से आ गई कि मुझमें भव है या राग-द्वेष है।

सर्वज्ञ के भव का अभाव है, राग-द्वेष का अभाव है। वह तीन काल और तीन लोक को एक समय में जानते हैं और मेरा स्वरूप भी सर्वज्ञ के समान ही है; इस प्रकार अपने ज्ञान का पर्याय में निर्णय किया तो उसमें भी भव नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, ऐसा मेरा स्वभाव है। इस प्रकार अपने ज्ञान की प्रतीति न होकर जो ज्ञेय के ऊपर डाल देता है, उसे अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

आकाश— जो ऊपर दिखाई देता है, वह आकाशद्रव्य नहीं है, किन्तु पुद्गलों की अवस्था है। आकाश अनंत है, अरूपी अजीवद्रव्य है; इस प्रकार आकाश का जो ज्ञान है, सो वह तेरे ज्ञान की स्वतः पर्याय उतनी-उतनी बड़ी और वैसी ही है। जो ज्ञान एक पर्याय में अनंता जानता है, उस ज्ञान की सामर्थ्य कितनी होगी, इस प्रकार अपने ज्ञान की महिमा आनी चाहिये। तेरा ज्ञान, आकाशद्रव्य के कारण नहीं है; तेरा ज्ञानस्वभाव भिन्न है और आकाशद्रव्य भिन्न हैं, यो श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

ज्ञप्ति और करोति क्रिया की व्याख्या

ज्ञप्तिक्रिया—ज्ञान की विकाररहित जो निर्मल क्रिया अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता है (अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा में पुण्य-पाप रहित ज्ञान की एकाग्रता), सो ज्ञप्तिक्रिया है।

करोति क्रिया— जड़ का कर्तव्य मेरा है, पुण्य-पाप के भाव का कर्तव्य मेरा है, जड़ की अवस्था मेरे हाथ में है—ऐसी जो मान्यता है अर्थात् मैं जड़ की क्रिया को कर सकता हूँ और विकारी परिणाम मेरे हैं—ऐसा जो अभिप्राय है, सो करोति क्रिया है।

नोट—(१) जड़ की अवस्था मेरे द्वारा होती है—ऐसा भाव और पुण्य-पाप के परिणाम मेरे हैं—ऐसा भाव अर्थात् करोति क्रिया ज्ञानी के नहीं होती, किन्तु ज्ञप्तिक्रिया (ज्ञानक्रिया) होती है।

(२) जीव, पर का कुछ नहीं कर सकता, इसलिये पर की कोई भी क्रिया, जीव की क्रिया नहीं है।

संवत्सरी प्रतिक्रमण संवाद

लेखक : रामजीभाई माणेकचंद दोशी

बालचंद—भाई! संवत्सरी निकट आ रही है, किन्तु प्रतिक्रमण के लिये मेरा आने का विचार नहीं हो रहा है, आप मुझे क्षमा करेंगे।

ज्ञानचंद—तुम्हें ऐसा विचार क्यों आया? यह स्पष्ट कहो, फिर इस संबंध में कुछ निश्चय करेंगे।

बालचंद—देखिये, मैं 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ तक नहीं जानता, तब फिर उसके भाव को तो मैं क्या समझूं, इसलिये कुछ विचार नहीं होता।

ज्ञानचंद—तुम इतने वर्षों से प्रतिक्रमण कर रहे हो और इसके संबंध में कुछ जानते नहीं हो तो इसे अभी तक अजानकारी में यों ही क्यों चलने दिया? अजानकारी में रहना तुम जैसे आदमियों का काम नहीं है।

बालचंद—आपका कहना सच है, अजानकारी हरगिज नहीं रहनी चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि—"हम भले न समझते हों, इसमें क्या हानि है? जितने समय तक धर्मस्थान में रहेंगे, उतने समय तक छह काय के जीवों की हिंसा टलेगी और फिर जब हम चौबीस घंटे तक अन्न-जल

ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा लेते हैं, तब वह तप तो हुआ ही तथा उससे निर्जरारूप धर्म भी हुआ, इसलिये हमें उसे समझने की क्या आवश्यकता है।'' भला, इस युग के मुझ जैसे युवक के गले यह बात कैसे उतर सकती है ? इसलिये यथार्थ क्या है, यह समझाइये।

ज्ञानचंद—तुमने स्पष्टीकरण माँगा, यह बहुत अच्छा किया। अजानकारी से आत्मा को कभी लाभ हो ही नहीं सकता, प्रत्युत हानि होती है; इसलिये तुम्हें यह विषय समझाने के लिये यहाँ कुछ कहूँगा।

बालचंद—प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है ? कृपया पहले यही बताइये।

ज्ञानचंद—प्रतिक्रमण=प्रति+क्रमण। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है वापिस होना। जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूला हुआ है, इसलिये उस भूल से वापिस होना—अपने यथार्थ स्वरूप को समझना, सो प्रतिक्रमण है।

बालचंद—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि—

(१) जीव क्या है और उसका स्वरूप क्या है ? यह स्वयं सर्व प्रथम जानना चाहिये।

(२) जीव अनादि काल से क्या भूल कर रहा है, यह जानना चाहिये। क्योंकि भूल को जाने बिना उससे वापिस कैसे हुआ जा सकता है।

(३) जीव का और अपने में होनेवाली भूल का स्वरूप जानकर, भूल से वापिस होना चाहिये, इस प्रकार आत्मा में होनेवाली क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं।

ज्ञानचंद—तुमने जो प्रतिक्रमण का स्वरूप है, वह बराबर है। ज्ञानीजन इसी को सच्चा प्रतिक्रमण कहते हैं।

बालचंद—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि आज तक बिना समझे जो प्रतिक्रमण करते रहे हैं, उसमें मात्र कालक्षेप हुआ है, आत्मा के लिये उससे कोई लाभ नहीं हुआ—क्यों यह ठीक है न ?

ज्ञानचंद—हाँ, बात तो ऐसी ही है। प्रतिक्रमण तो आत्मा का (जीव का) शुद्धभाव है, इसलिये जो आत्मा को नहीं समझता, उसके प्रतिक्रमण की यथार्थ क्रिया नहीं हो सकती।

बालचंद—कुछ लोग कहते हैं कि छह काय के जीवों की रक्षा हुई, इतना तो लाभ हुआ ? क्या यह ठीक नहीं है ?

ज्ञानचंद—तुम छहकाय के जीवों में हो या नहीं ? यदि हो तो क्या तुम्हारी रक्षा हुई ? यदि

नहीं हो तो छह काय के जीवों की रक्षा कहाँ हुई ?

बालचंद—मैं तो यह भी ठीक-ठीक नहीं जानता कि जीव क्या है, इसलिये मैं यह कुछ नहीं कह सकता कि छह काय जीव किन्हें कहते हैं ? हाँ, जब मैं छोटा था, तब मैंने कुछ बोल सीखे थे, जिनमें यह भी था कि पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव और त्रस जीव यों मिलाकर छह प्रकार के संसारी जीव हैं, उन्हें छह काय के जीव कहते हैं। मैं त्रस जीव हूँ; इसलिये छह काय के जीवों में मैं भी आ गया।

ज्ञानचंद—तब बताओ कि तुम्हारे माने हुये प्रतिक्रमण से तुम्हारे जीव की रक्षा हुई या नहीं अर्थात् तुम्हारा विकार दूर हुआ या नहीं।

बालचंद—जब मैं जीव का यथार्थ स्वरूप ही नहीं समझता, तब मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मेरे जीव की रक्षा हुई या नहीं।

ज्ञानचंद—ज्ञानीजन कहते हैं कि जब तक जीव अपने स्वरूप को नहीं समझता, तब तक समय-समय पर अपना भावमरण किया करता है और इसलिये वह दु:ख ही भोगता रहता है। तुम अपने स्वरूप को नहीं समझे हो, इसलिये तुम अपना भावमरण प्रत्येक समय में किया करते हो। बिना समझे होनेवाली प्रतिक्रमण की क्रिया के समय भी भावमरण तो हो ही रहा है, तब फिर तुम्हारे जीव की रक्षा कहाँ हुई ? रक्षा तो क्या हुई किन्तु तुम्हारी अरक्षा अर्थात् भावमरण हुआ। इसी प्रकार छह काय के जीवों की भी रक्षा नहीं हुई।

बालचंद—किन्तु मैंने दूसरे जीवों को नहीं मारा, इसलिये उतने समय के लिये इतना लाभ तो हुआ ?

ज्ञानचंद—यह विषय बराबर विचारणीय है। तुम जब जीव को पहचानते ही नहीं हो तब तुमने उसे मारा अथवा नहीं मारा, यह प्रश्न ही कैसे उठेगा ? और फिर यह निश्चित करने की आवश्यकता है कि जो जीव जी रहे हैं, वे तुम्हारे कारण से जी रहे हैं या अपने कारण से ? इस विषय में तुम क्या मानते हो-यह बताओ।

बालचंद—मैंने इस संबंध में न तो कोई विचार किया है और न उसके यथार्थ स्वरूप का निश्चय किया है, इसलिये आप ही समझाइये।

ज्ञानचंद—यदि युवक गहराई में उतर कर सच्चे स्वरूप को समझने के लिये परिश्रम करें तो बहुत अच्छा हो, इसलिये धीरज के साथ सुनकर और उस पर विचार करके सत्यासत्य का

निर्णय करना। अमुक आदमी कहता है, इसलिये मान लेना तो अंधश्रद्धा है और अंधश्रद्धा अज्ञान है—अविवेक है, इसलिये विचारवान व्यक्तियों को उसका त्याग करना ही चाहिये।

बालचंद—आपका कहना सच है। अंधश्रद्धा, विपरीतदशा है और विपरीतदशा से लाभ हो नहीं सकता है। मेरे मन में सत्य को समझने की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, इसलिये आप जो कहेंगे, उसे सुनकर मैं विचार करूँगा और सत्यासत्य का निर्णय करूँगा।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा! यदि तुम ऐसा करोगे तो असत्य से पृथक् होकर सत्य को यथार्थरूप में समझ लोगे और यही सच्चा प्रतिक्रमण है। यदि ऐसा हुआ तो यह संवत्सरी प्रतिक्रमण तुम्हारे लिये यथार्थरूप में होगा।

बालचंद—मुझे अब ऐसा लग रहा है कि अब मुझे वीतराग की आज्ञा के अनुसार सच्चा प्रतिक्रमण करना चाहिये। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो मेरा अमूल्य मनुष्यभव व्यर्थ जायगा।

ज्ञानचंद—ठीक है, अब विचार करो कि क्या कोई जीव दूसरे जीव को मारने के लिये समर्थ है? अनेक बार ऐसा होता है कि जब एक आदमी किसी दूसरे आदमी को मारने के लिये बंदूक मारता है, तब वह आदमी तो नहीं मरता किन्तु कोई दूसरा ही अजान आदमी बीच में आ जाता है और गोली लगने से वह मर जाता है। इसका सिद्धांत ऐसा है कि प्रत्येक जीव और उसका शरीर जब तक एक साथ रहने योग्य है, तब तक निश्चय से वे रहते ही हैं। लोग उसे जीवन कहते हैं। जब जीव और शरीर एक साथ रहने योग्य नहीं होते, तब वे पृथक् हो जाते हैं, लोग इसी को मरण कहते हैं।

यहाँ इतना विशेष ध्यान रखना चाहिये कि एक आदमी ने दूसरे को मारने के लिये—खून करने के लिये विचार किया और उस विचार की पूर्ति के लिये उसे बंदूक मारी, किन्तु वह बच गया। यद्यपि उस आदमी को कोई शारीरिक हानि नहीं हुई, फिर भी जिस जीव ने खून करने का भाव किया था, उस जीव ने स्वयं अपनी हिंसा तो कर ही ली है, क्योंकि उसने तीव्र अशुभभाव करके अपनी शुद्धता का खून किया है। अज्ञानी जीव अपने विकारी भावों से लाभ होता है, इस प्रकार की विपरीत समझ से अपने गुणों का खून कर रहे हैं, इसी का नाम भावमरण है। इस प्रकार दूसरा जीव बचे या मरे, किन्तु जिस जीव ने किसी को मार डालने का भाव किया है, उसने अपनी हिंसा तो कर ही डाली है।

बालचंद—आपकी बात को मैंने समझ लिया है। हाँ, आपने जो उदाहरण दिया है, वह

अशुभभाव का है, किन्तु बिना समझे प्रतिक्रमण करनेवाले ने तो किसी जीव को मारने का भाव नहीं किया है, उसके संबंध में आप क्या कहते हैं ?

ज्ञानचंद—कोई जीव स्वयं दूसरे का लाभ या हानि नहीं कर सकता, किन्तु अपने ही भावों में गड़बड़ी कर सकता है, यही बताने के लिये उपरोक्त दृष्टांत दिया गया है। जैसे एक जीव किसी का बुरा नहीं कर सकता, उसी प्रकार भला भी नहीं कर सकता। यदि कोई दूसरे जीवों को दुःख नहीं देने का भाव करता है तो वह शुभभाव है और यदि परेशान करने का भाव करता है तो अशुभभाव है। शुभाशुभभाव मेरे हैं और वे करने योग्य हैं, इस प्रकार जीव की जो दृढ़ धारणा है, वह संसार का मूल है—जड़ है। और जब तक उसका छेदन नहीं किया जाता, तब तक संसार बना रहता है। अपना यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह दूर नहीं हो सकता। उस जड़ को शास्त्रीय परिभाषा में मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व ही संसार है और वही परिग्रह है, उससे वापिस होना सो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है।

बालचंद—आपकी बात को मैंने समझ लिया। आप यह कहना चाहते हैं कि—

(१) एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती और इसलिये वह हानि-लाभ भी नहीं कर सकती। जीव और अजीव भी वस्तुएँ हैं, इसलिये जीव, पुद्गल का अथवा दूसरे जीव का कुछ नहीं कर सकता और न पुद्गल ही किसी जीव को हानि-लाभ पहुँचा सकता है।

(२) इस प्रकार की मान्यता होने पर जो जीव, जगत के अनंत पदार्थों पर अपना स्वामित्व विपरीत दृष्टि के कारण मान रहा था, वह दूर हो जाता है।

(३) प्रत्येक जीव अपने आप को ही अपने भाव से हानि या लाभ पहुँचा सकता है।

(४) यदि अपने स्वरूप को समझ ले तो उसे लाभ हो और सच्ची समझ को आप 'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण' कहते हैं, क्या यह बात ठीक है ?

ज्ञानचंद—हाँ, तुमने जो कहा वह ठीक है; किन्तु अपने स्वरूप को समझना चाहिये ऐसा कह देने से स्वरूप नहीं समझा जाता; इसलिये उसका उपाय करना चाहिये।

बालचंद—आप का कहना ठीक है। कृपया वह उपाय बताइये।

ज्ञानचंद—पहले आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मा का ठीक-ठीक स्वरूप समझना चाहिये। आत्मा त्रिकाली अखंड, शुद्ध, चैतन्यचमत्कारमात्र ध्रुवस्वरूप है; मात्र अपनी वर्तमान चालू अवस्था में क्षण-क्षण में नया विकार किया करता है। उसकी ओर लक्ष्य को गौण करके यदि

त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वरूप की ओर लक्ष्य दे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और सम्यग्दर्शन का प्रगट करना, सो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है; इसलिये इस संबंध में विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये।

बालचंद—कई लोग प्रतिक्रमण का पाठ करते हुये इस प्रकार बोलते सुने गये हैं—

'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण' मैं यहाँ पर यह जानना चाहता हूँ कि मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण न किया जाय और दूसरा किया जाय तो चल सकता है या नहीं ?

ज्ञानचंद—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुये बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुये बिना किसी जीव के सच्चे व्रत नहीं हो सकते। बालव्रत अथवा बालतप हो सकता है, किन्तु बालव्रत या बालतप धर्म नहीं है, वह तो अधर्म है। अर्थात् मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुये बिना दूसरा कोई प्रतिक्रमण नहीं हो सकता, इसलिये आत्मस्वरूप को समझने की बहुत आवश्यकता है।

बालचंद—आपने जो कहा सो ठीक है, हम जैसे युवकों को अपना कार्यक्षेत्र बदलने की आवश्यकता है यथार्थ समझ कर लेने की आवश्यकता है। विशेषत: प्रत्येक स्थान पर सम्यक्ज्ञान की प्याऊ बिठाने का काम करना चाहिये।

ज्ञानचंद—युवक और वृद्ध यह शरीराश्रित अवस्थायें हैं। जीव से शरीर परवस्तु है, इसलिये उस परवस्तु की ओर से लक्ष्य छोड़कर प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप समझने के लिये प्रयास—सत्य पुरुषार्थ करना चाहिये और अपने स्वरूप में स्थिर रहना चाहिये। जब स्थिर नहीं रह सकता, तब अपने को अशुभभाव न हो सके, इसलिये ज्ञान की रुचि बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। उन भावों को जगत के जीव प्राप्त कर सकें, इसके लिये सम्यक्ज्ञान की प्याऊ प्रत्येक स्थान पर स्थापित हो, वह पुष्ट हो और वृद्धिंगत होती रहे, ऐसी भावना भानी चाहिये।

बालचंद—युव क और वृद्ध शरीराश्रित अवस्था है, यह ठीक है। समस्त जीव अनादि काल से हैं, इसलिये कोई छोटा- बड़ा नहीं है, अत: समस्त जीवों को अपना स्वरूप समझ कर अपना अज्ञान दूर

परीषह

बाह्य संयोग में समभाव रखकर शुद्ध भाव में बढ़ते जाना, सो परीषह है। और उस समय का बाह्य संयोग 'परीषह निमित्त' है। इस प्रकार उपसर्ग अथवा परीषह बाह्य में नहीं, किन्तु अपने भाव में है।

करने का प्रयत्न करना चाहिये, मिथ्यादर्शन को दूर करना चाहिये। जो इस प्रकार करता है, उसी के सच्चा प्रतिक्रमण होता है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। अमुक समय के लिये आहार के त्याग की प्रतिज्ञा लेना, सो सम्यक् तप नहीं है, क्योंकि जिसे अपने स्वरूप की खबर नहीं है, उसके बालतप होता है, यह बात भगवान ने डंके की चोट कही है। इसलिये मुझे सर्व प्रथम मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना चाहिये, मैं इस बात को भलीभाँति समझ चुका हूँ और अपने मित्रों को भी सच्चा प्रतिक्रमण करने के लिये समझाने का प्रयत्न करूँगा।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा। अब तुम और सब प्रतिक्रमण का यथार्थ स्वरूप समझो तथा भगवान के सच्चे अनुयायी बनो, नाम के अनुयायी मिट जाओ, मेरी यही भावना है।

जिनदेव का सच्चा सेवक

जो व्यवहार से भी जिनेन्द्र भगवान का भक्त होता है, वह मिथ्याभाव को स्थान नहीं देता अर्थात् वह वीतराग देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर कुगुरु, कुदेव आदिक का समर्थन नहीं करता। वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकार से असत् / मिथ्या का समर्थन नहीं करता—उसे स्थान नहीं देता। जब वह यह श्रद्धा कर ले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादिक एक समान नहीं हो सकते, तब व्यवहार से सर्वज्ञ की श्रद्धा कहलाती है। सत्य मार्ग एक ही होता है, तीन लोक और तीन काल में सत्य के दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य देव को सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्य धर्मों का समन्वय करना चाहते हैं, किन्तु जैनधर्म का अन्य धर्मों के साथ कभी भी समन्वय नहीं हो सकता। अमृत और विष का समन्वय कैसा? वीतराग का सेवक वीतराग देव के स्वरूप को या बाह्य रूप को अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतराग की वाणी सहज स्वभाव से निकलती है। भगवान की वाणी दूसरे के लाभ की इच्छा से नहीं खिरा करती, भगवान तो बिल्कुल वीतराग हो चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतंत्ररूप से खिरती है।

अब यहाँ यह कहा जाता है कि वीतराग का सेवक कब कहलाता है और व्यवहार से जैन कब कहलाता है?

वीतराग का सेवक, वीतरागदेव से विपरीत कहनेवाले की बात भी नहीं सुनता। बाप को गाली देनेवाला बाप का दुश्मन है; अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता; इसी प्रकार वीतराग की बात से विरुद्ध कहनेवाले की बात को वीतराग का सेवक कभी नहीं सुन सकता। वह जिनदेव की वीतराग प्रतिमा के रूप को सरागरूप नहीं करता। वीतराग की प्रतिमा के वस्त्र नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकते और शस्त्र आदि राग-द्वेष के अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग हैं, आनंदघन हैं। उनके साक्षात् अभाव में प्रतिमाजी में उनकी स्थापना की जाती है।

स्थापना दो प्रकार की होती है—(१) सद्भावरूप स्थापना (२) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति में जिन देवत्व का आरोप करना, सो सद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेव की प्रतिमा में जिनदेव की ही स्थापना होती है, इसलिये उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेव का प्रतिबिम्ब है—निर्ग्रंथ है। इस प्रकार जो व्यवहार से भी जिनदेव का सेवक है, वह जिनदेव के स्वरूप को अन्यथा नहीं मानता, वह जिनप्रतिमा की अविनय नहीं करता। यदि कोई जिनदेव की प्रतिमा का अविनय करता है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता और अविनयादि के स्थान से स्वयं अपने को बचाता रहता है। इसी प्रकार जिनदेव की तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रों के संबंध में भी समझना चाहिये। इतना करने पर वह शुभराग में आया हुआ कहलाता है, उसके गृहीतमिथ्यात्व

छूट गया है और वह बाह्य जैन कहलाता है और जब वह शुद्ध आनंदघन स्वरूप की श्रद्धा के बल पर शुभराग का भी त्याग कर देता है कि 'मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं है, इतना ही नहीं, किन्तु देव, शास्त्र, गुरु की ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखंड ज्ञायक हूँ, मेरे ज्ञायक स्वभाव में राग का अंश भी नहीं है।' इस प्रकार जब आत्मस्वभाव की श्रद्धा करता है, तब वह परमार्थ श्रद्धा है। वह वीतराग का सच्चा सेवक हो गया है, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अगृहीतमिथ्यात्व छूट गया है और वह सच्चा जैन हो गया है।

(मुक्ति का मार्ग में से)

—ग्राहकों.... से.... निवेदन—

आपका वार्षिक मूल्य १२ वें अंक के साथ पूरा हो चुका है, इसलिये दूसरे वर्ष का (अंक १३ से २४ तक का) मूल्य तीन रुपया मनियार्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

आपके पास दूसरे वर्ष का प्रथम (१३ वाँ) अंक (वैशाख का) भेजा जा चुका है और दूसरा (१४ वाँ) अंक आपके पास भेज रहा हूँ।

यदि आषाढ़ शुक्ला १५ तक आपका मूल्य तीन रुपया मनियार्डर से नहीं आ जायगा तो तीसरा (पंद्रहवाँ) आषाढ़ का अंक आपके पास सवा तीन रुपया की वी.पी.पी. से भेजा जायगा। जो आप तुरन्त ही छुड़ा लेने की कृपा करेंगे।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता. ०७-०७-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड